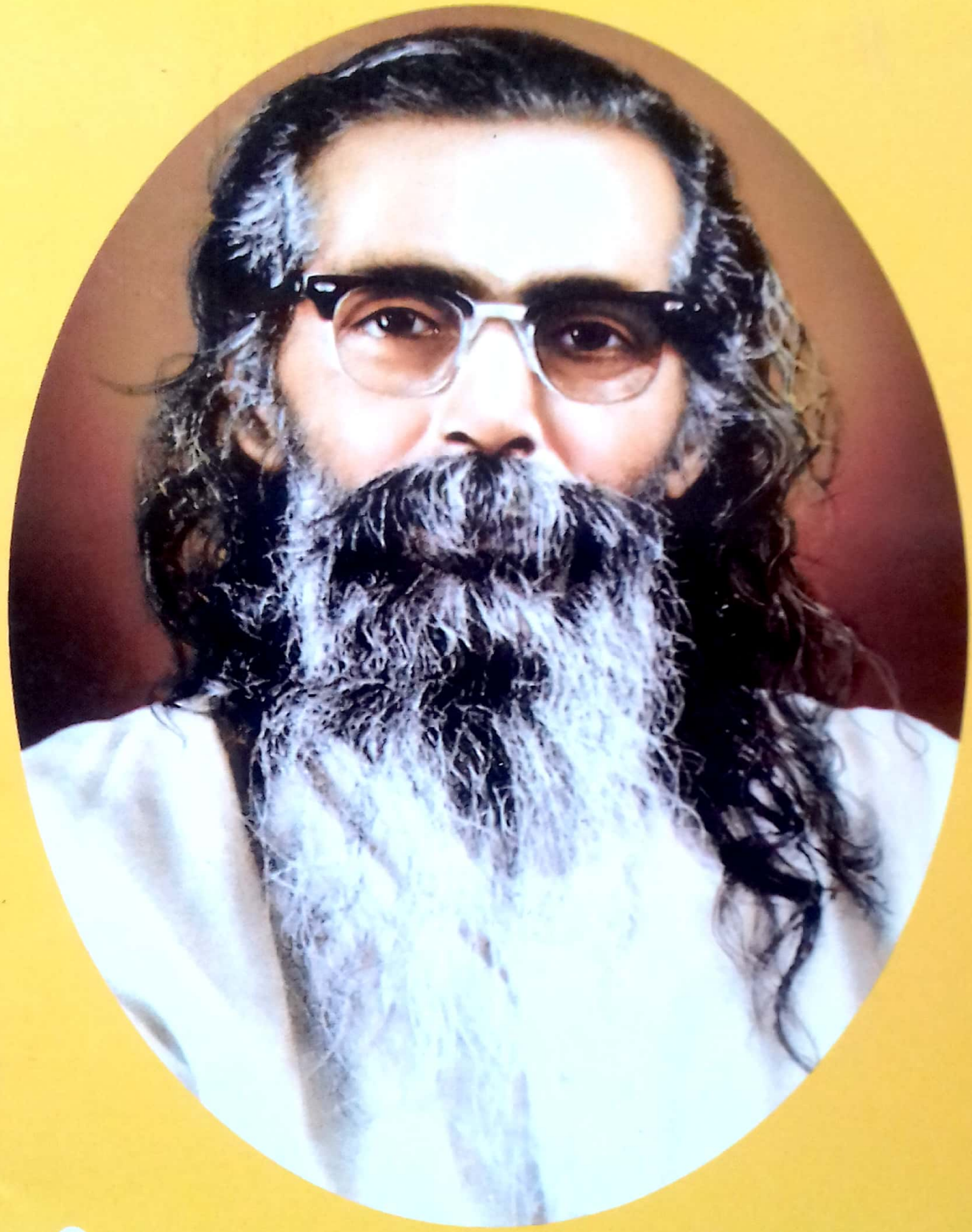

मैं साधारण स्वयंसेवक

माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर

Scanned by CamScanner

मैं साधारण स्वयंसेवक

माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर

सुरुचि प्रकाशन
केशव कुंज, झण्डेवाला, नई दिल्ली - 110055

Scanned by CamScanner

प्रस्तावना

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक श्री माधव सदाशिव गोळवलकर को हम सब परम पूजनीय श्री गुरुजी के नाम से जानते हैं, उनका यह एक बहुमूल्य बौद्धिक वर्ग-व्याख्यान है।

अनेक स्वयंसेवक अपना परिचय 'मैं एक साधारण स्वयंसेवक हूँ'–इन शब्दों में करा देते हैं। परिचय के इस सादे सूत्र को लेकर इस बौद्धिक वर्ग में परम पूजनीय श्री गुरुजी ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की समूची विशेषताओं का प्रतिपादन किया है ।

प. पू. आद्य सरसंघचालक डॉक्टर हेडगेवार जी के जीवन के प्रसंगों का निवेदन करते हुए श्री गुरुजी ने समाज में कैसे व्यवहार करें, शाखा कैसी चलायें, शाखा के आसपास के लोगों से कैसे सम्बन्ध रहने चाहिये, चरित्र शुद्ध क्यों होना चाहिये, व्यवहार स्नेहार्द्र क्यों रहना चाहिये, आदि सभी बातें अत्यन्त सुगम, सुलभ और सुसूत्र पद्धति से बतायी हैं।

संघ का सामान्य स्वयंसेवक, जैसा कि वह कहता है, 'सामान्य' नहीं है। उसमें एक निराली 'असामान्यता' है। वह असामान्यता, जिसका उसे भान ही नहीं है, फिर अभिमान होना तो बहुत दूर ! परन्तु श्री गुरुजी कहते हैं–सामान्य स्वयंसेवक होना प्रतिष्ठा की बात है। उसके समान गर्व करने योग्य अन्य कोई बात हो नहीं सकती । पद और अधिकार तो केवल व्यवस्था की बातें हैं; मूल आधार है स्वयंसेवक होना।

इस बौद्धिक में एक और मूलभूत विषय आया है। हमें सम्पूर्ण हिन्दु समाज का संगठन करना है। हमारा उद्देश्य 'हिन्दु समाज में एक छोटा-मोटा संगठन खड़ा करना' नहीं है। अखिल हिन्दु समाज को संगठित करना हमारा लक्ष्य है। हमारी दृष्टि के सामने इस समग्र समाज का चित्र होना चाहिये। समाज के सबके सब व्यक्ति संघस्थान पर आयेंगे, ऐसी कल्पना नहीं है। परन्तु 'नगरवासी, ग्रामवासी, वनवासी सभी हमारे बन्धु हैं। इन सबसे हमारा स्थायी सम्बन्ध रहे, जीता-जागता, आत्मीयता का, स्नेह, विश्वास, परस्पर सहयोग का सम्बन्ध निरन्तर बना रहे, इसकी हमें चिन्ता करनी चाहिये। श्री गुरुजी कहते हैं–'इसके लिए जितने कार्यकर्ता आवश्यक हों, उतने कार्यकर्ताओं से युक्त उतनी शाखाएं, सम्पूर्ण देश में व्याप्त एवं नित्य चलने वाली शाखाएं होनी चाहिए।' साधारण स्वयंसेवक पर यह दायित्व है और यह कार्य जीवनव्यापी है। श्रीगुरुजी का कहना है कि ऐसे साधारण कार्यकर्ता को 'असाधारण श्रेष्टता और मान्यता प्राप्त हुई है।' यह बात जब कही गयी, उस समय जितनी समीचीन थी उससे अधिक आज की घड़ी में है। समाज को संघ का परिचय जितना उसके तत्त्वज्ञान, अनुशासनबद्ध कार्यक्रम और पथ-संचलन से होता है, उससे कहीं अधिक संघ के साधारण स्वयंसेवक द्वारा होता है । संघ कैसा है, इसे पहचानने का सबसे उत्तम और प्रभावी साधन है–साधारण स्वयंसेवक और उसका व्यवहार। समाज के हृदय-पटल पर संघ के स्वरूप और चरित्र की सम्यक् छाप अंकित करनी हो, तो वह साधारण स्वयंसेवक के आचरण से होने वाली है। इतने 'महान् दायित्व' का पद है साधारण स्वयंसेवक। श्री गुरुजी की अपेक्षा है कि हम स्वयंसेवक इस दायित्व को पहचानें। सामान्य की असामान्यता का यही मर्म है। सभी स्वयंसेवकों को यह बौद्धिक वर्ग अवश्य अन्तर्मुख करेगा, इसमें मुझे किंचित् भी सन्देह नहीं है।

– मा. गो. वैद्य

Scanned by CamScanner

मैं साधारण स्वयंसेवक

यात्रा का एक अनुभव मुझे स्मरण आया। स्वयंसेवकों के साथ बातचीत में किसी से परिचय पूछा तो कतिपय स्वयंसेवक 'मैं एक साधारण स्वयंसेवक हूँ' अथवा 'सामान्य स्वयंसेवक हूँ', ऐसा बताते हैं। अनेक बार ऐसा कहने का आशय होता है कि 'संघकार्य का मुझ पर कोई दायित्व नहीं है।' यदि कोई दायित्व है तो ऐसा आचरण करना कि जिससे अपने गटनायक, गणशिक्षक आदि को अपने पीछे विशेष प्रयास करने पड़ें अर्थात् संघ-शाखा में अनुपस्थित रहना, जिससे कि वे घर आयें, पुकारें और इस प्रकार अपने गटनायक अथवा गणशिक्षक काम में सतर्क रहें, मानो यही अपना दायित्व है, ऐसा स्वर उसमें से निकलता है।

प्रतिष्ठा की बात

अब यह जो 'साधारण स्वयंसेवक' शब्द-प्रयोग है, वह तो अच्छा है, क्योंकि हम सभी साधारण स्वयंसेवक हैं। असाधारण किसमें हैं ? अब लोग कहते हैं कि मेरा संघ में प्रमुख स्थान है। अंग्रेजी में चीफ ऑफ आर.एस.एस. (Chief of R.S.S) कहते हैं। तो मुझमें असाधारणता या असामान्यता कौनसी है ? थोड़ी दाढ़ी बढ़ी है; आप भी नित्य दाढ़ी न बनायें तो आपकी भी बढ़ेगी। उसमें असामान्यता क्या है ? यहाँ पर भी कुछ ऐसे लोग हैं जो उस दिशा में प्रयत्नशील हैं। इसलिए उसमें कोई विशेषता नहीं है। मुझे बहुत पुराना स्मरण है । वह है अपने संघ का कार्य जिन्होंने आरम्भ किया उनके बारे में। उन्होंने अपने सहयोगी कार्यकर्ता बन्धुओं से आग्रहपूर्वक कहा–"यह जो सरसंघचालक का काम है, उसे करने के लिए किसी अन्य को तैयार करो जिससे मैं उसे यह दायित्व सौंप कर एक 'साधारण स्वयंसेवक' के रूप में खुल कर काम कर सकूंगा। साधारण स्वयंसेवक कैसा हो, इस सम्बन्ध में मेरी कुछ धारणा, इच्छा, अपेक्षा है। तनुसार स्वयं चल कर अपने साथ-साथ काम करने वालों के सामने एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकेगा।" अर्थात् उनकी कल्पना 'साधारण स्वयंसेवक' बन कर रहने की थी। परिस्थिति ने उन्हें वैसे रहने नहीं दिया, अतः संघ के प्रमुख के नाते उन्हें काम करना पड़ा। उन्होंने ऐसी इच्छा मन में क्यों की ? ऐसी अपेक्षा क्यों रखी ? एकमात्र कारण है कि अपने संगठन में 'साधारण स्वयंसेवक' होना अत्यन्त प्रतिष्ठा की बात है। अत्यधिक प्रतिष्ठा की ! समय-समय पर अपने देश में, समाज में घूमते हुए यदि कोई मुझे पूछे कि 'तुम्हारे जीवन में सर्वाधिक गर्व करने योग्य कौनसी बात तुम्हें लगती है ?' तो मैं कहना चाहूंगा कि 'मैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का स्वयंसेवक हूँ'। इससे अधिक गर्व करने योग्य कोई बात नहीं है। हाँ, कुछ पढ़ लिया, कुल उपाधियाँ मिलीं, कुछ लोगों को पढ़ाया भी, कहीं-कहीं जाकर

Scanned by CamScanner

भाषण करता हूँ, कुछ लोग आकर माला पहनाते हैं, कुछ साष्टांग दण्डवत् प्रणाम भी करते हैं। मेरे इस रूप और वेश के कारण मुझे अधिक लोग नमस्कार करते हैं, तो उसमें भी मुझे गौरव नही अनुभव होता। बड़े-बड़े लोग मिलते हैं, बाहर के भी मिलते हैं, धार्मिक क्षेत्र के श्रेष्ठ साधु पुरुष मिलते हैं। हम लोगों पर उनकी कृपा है। राजनीति के क्षेत्र के मिलते हैं, शिक्षा-क्षेत्र वाले मिलते हैं, विभिन्न समस्याएँ सामने रखते हैं और कहते हैं कि हमें परामर्श दीजिये। ये सब बातें मन में एक प्रकार से अभिमान उत्पन्न करने वाली अवश्य हैं। परन्तु मुझे कभी ऐसा नहीं लगा कि इस पर कोई गर्व किया जाय। गर्व करने की यदि कोई बात हो तो यही है कि 'ईश्वरीय संकेत और संयोग से मैं अपने संघ का स्वयंसेवक हूँ।'

कार्य-व्यवस्था

भावार्थ यह है कि स्वयंसेवक होने से बढ़कर गर्व और सम्मान की दूसरी बात हमारे लिए कोई नहीं। अब आप सोचेंगे कि यदि ऐसा है तो अपने ये सब अधिकारी हैं, सरसंघचालक से लेकर गटनायक तक, उनका क्या ? तो वह अपने कार्य की व्यवस्था है, क्योंकि कोई भी संगठन व्यवस्था के बिना चल नहीं सकता; और हमें भी संगठन चलाना है। अतः हमने वह व्यवस्था की है और प्रत्येक को एक-एक दायित्व सौंपा है। अर्थात् वह अब उस दायित्व का भार वहन करने वाला स्वयंसेवक है। परन्तु उसे भी जीवन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यदि कोई बात माननी हो, तो वह यह है कि व्यवस्था में आज मुझे भले ही कोई अधिकार दिया गया हो, मैं स्वयंसेवक हूँ– यही एकमात्र गर्व की बात है।

अतः सामान्यतः जब हम कहते हैं कि मैं एक साधारण स्वयंसेवक हूँ, तब इस दायित्व का बोध हमें अपने हृदय में रखना चाहिये। यह दायित्व बहुत बड़ा है। समाज भी हमारी ओर देख रहा है, और समाज हमें एक स्वयंसेवक के रूप में देखता है। समाज की हमसे बड़ी-बड़ी अपेक्षाएँ रहें और उन अपेक्षाओं को पूर्ण करते हुए हम उनसे भी अधिक अच्छे प्रमाणित हों, ऐसा भी हमें लगता है।

शाखा कैसी हो ?

साधारणतया हमें किन बातों की ओर ध्यान देना चाहिये ? सर्वप्रथम हम संघशाखा के विषय में विचार करें। हमारी शाखा कैसी होनी चाहिये ?

१. शाखा नित्य लगनी चाहिये।

२. वह निश्चत समय पर लगनी चाहिये।

३. शाखा में भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यक्रम होने चाहिये।

४. सब स्वयंसेवकों में परस्पर मेलजोल, स्नेह, प्रेम और शुद्धता का वातावरण हो।

५. आपस में विचार-विनिमय, चर्चा आदि कर अपने अन्तःकरण में ध्येय का साक्षात्कार नित्य अधिकाधिक सुस्पष्ट और बलवान् करते रहने की हमारे अन्दर प्रेरणा,

Scanned by CamScanner

इच्छा रहे।

६. सामूहिक रूप से नित्य हम अपनी प्रार्थना का उच्चारण करें। गम्भीरता से, श्रद्धा से, भाव समझ कर करें।

७. हमारे परम पवित्र प्रतीक के रूप में जो अपना भगवा ध्वज है, उसे हम सब मिल कर नम्रतापूर्वक प्रणाम करें।

८. 'शाखा विकिर' के अनन्तर बैठ कर आपस में बातचीत करें; कौन आया, कौन नही आया, इसकी पूछताछ करें।

ये और ऐसी ही अपनी दैनिक शाखा के विषय में नित्य करणीय बातें हैं।

हमें क्या करना होगा ?

१. यदि शाखा नियमित एवं समय पर प्रारम्भ करनी है तो शाखा के निर्धारित समय से 'पर्याप्त पूर्व' हम अपने घर अथवा जहाँ भी हों वहाँ से निकलें और शाखा के समय से पूर्व (कम से कम दो मिनट पूर्व) संघ-स्थान पर उपस्थित रहें।

कोई हमें बुलाने आयेगा तब जायेंगे, ऐसी प्रतीक्षा करना आवश्यक नहीं। बुलाने वाला अपना कर्तव्य करेगा; पर उसे कर्तव्य करने का अवसर देने के लिए घर पर ही बैठे रहें, यह हमारा काम नहीं है, यह बात सब ध्यान में रखें।

२. विचार करें कि मैं संगठन करने वाला मनुष्य हूँ, अकेलाराम नहीं। तब शाखा के लिए कुछ पहले निकल कर, जो भी आसपास स्वयंसेवक रहते हों, उन्हें पुकार कर अपने साथ क्यों न ले जायें ? यह सामान्य मित्रता है, इसमें दायित्व का प्रश्न कहाँ उठता है ? गटनायक अथवा गणशिक्षक बनने की आवश्यकता कहाँ है ? सादी मित्रता है कि हम किसी अच्छे काम के लिए जाते हैं, तो अपने साथ अपना मित्र आये। अपने घर के आसपास अर्थात् शाखा के मार्ग पर जो कोई अपने बन्धु हों उन्हें पुकार कर, अपने साथ लेकर हँसते-खेलते आनन्द से हम संघ-स्थान पर पहुँचें। यह भी हमारे द्वारा स्वाभाविकता से होना चाहिये।

३. संघस्थान पर सभी कार्यक्रम मन लगाकर करें, अनुशासनपूर्वक नियमानुसार करें। उनमें कष्ट हो तो रुष्ट न हों। अपने कार्यक्रम कष्ट-कर होते हैं। कष्ट करने का अभ्यास कर बड़े-बड़े काम सहज करने की शक्ति बढ़ानी चाहिये, इसलिए उन्हें प्रयत्नपूर्वक करें। यहाँ प्रथम बौद्धिक वर्ग में जैसा मैंने बताया, ये कार्यक्रम अन्तःकरण में निर्भयता, आत्मविश्वास, पराक्रम के भाव उत्पन्न कर, हम सबको एक अनुशासन में गूँथ कर, हम सब एक महती शक्ति के अंग हैं इस अनुभूति को निरन्तर जाग्रत रखने के लिए हैं। इसलिए उन कार्यक्रमों का हम उत्तम अभ्यास करें।

४. प्रार्थना, ध्वज-प्रणाम, ध्वजावतरण होकर 'विकिर' होने पर भी तुरत-फुरत घर भागने की इच्छा क्यों होनी चाहिये ? होनी नहीं चाहिये। घर जाने अथवा और कहीं

Scanned by CamScanner

घूमने जाने की इच्छा होने का अभिप्राय होगा कि हम शाखा में अनिच्छा से, बलात् आये थे और इस बला से छूट गये । हम किसी के दबाव से तो शाखा में आते नहीं । आना भी नहीं चाहिये । हृदय से आयें, ऐसा अपने यहाँ कहा जाता है । तब यहाँ से भाग जाने की इच्छा क्यों ? ऐसा लगना चाहिये कि थोड़ी देर और यहाँ बैठें । अतः बैठ कर दो बातें करें –

(क) कौन नहीं आया ? शाखा में आने वाले स्वयंसेवक बन्धुओं में से कौन आये, कौन नही आये, इसकी ठीक जानकारी कर लें । जो न आया हो, वह क्यों नहीं आया, इसकी पूछताछ करें । यह नित्य का औपचारिक भाग हुआ ।

(ख) ध्येय का स्मरण– नित्य अपने ध्येय का स्मरण करें । हिमालय से लेकर दक्षिणी महासागर के तट तक असंख्य पवित्र स्थान बिखरे हैं । उनका स्मरण करें । अनेक ऐतिहासिक स्थल हैं; प्रत्येक स्थल से किसी महापराक्रमी पुरुष की कुछ न कुछ विशेषता जुड़ी हुई है, उसका स्मरण करें । उस महापुरुष की विशेषता में से जो गुण प्रकट होते हैं, उनका सब मिल कर एकत्र बैठ कर स्मरण करें और सोचें कि ये गुण अपने में हैं या नहीं ? अपने अन्दर इन गुणों का विकास करने का हम प्रयास करते हैं, या नहीं ? या हम केवल शिवाजी का नाम लेते हैं ? आजकल शिवाजी का नाम लेने वाले बहुत हो गये हैं । अकारण लेते हैं । किन्तु उनके गुण अपने अन्दर आने चाहिये । शिवाजी कहने पर अखिल भारतवर्ष में स्वातंत्र्य-सूर्य का फिर से उदय कर हिन्दुओं का प्रभुत्वसम्पन्न, धर्माधिष्ठित पवित्र राज्य-स्थापना का महान् उपक्रम करने वाला असामान्य वीर, नीतिमान्, चतुर राजनीतिज्ञ, साथ ही अत्यन्त उज्ज्वल विशुद्ध राष्ट्रीय चरित्रयुक्त एक विलोभनीय महान् व्यक्तित्व हमारे सामने आता है । उनके ये गुण हमारे अन्दर आयें । इस प्रकार एक-एक श्रेष्ठ पुरुष का विचार करते हुए हमने अपने गुणों का विकास करने का कितना प्रयास किया ? विपरीत अवगुणों को दूर करने का कितना प्रयास किया ? इसका विचार अकेले करें, सब मिल कर करें ।

५. और फिर जो न आये हों, वे क्यों नहीं आये, इसका पता लगाने सबके यहाँ जायें । छोटी-छोटी टोलियों में जायें । उनसे मिलें, कोई कठिनाई हो तो उसका निवारण करने का प्रयास करें कठिनाई न हो तो अकारण शाखा से अनुपस्थित रहना ठीक नहीं, यह बात उसे भली भाँति, अच्छे शब्दों में समझायें । दूसरे दिन से वह उपस्थित रहने की चिन्ता करे, इस प्रकार उसे समझायें ।

यह है हमारा नित्य का न्यूनतम कार्य । 'साधारण स्वयंसेवक' के रूप में इतना हमें करना ही चाहिये । इसके अतिरिक्त भी हमारे लिए कुछ कर्तव्य हैं ।

पड़ोसी का धर्म

हम जहाँ रहते हैं, उसके आसपास अनेक घर होते हैं, जहाँ कतिपय लोग रहते

Scanned by CamScanner

हैं। अर्थात् सब मिल कर हम एक दूसरे के पड़ोसी हैं। अब अपना कुछ पड़ोसी-धर्म भी है। उस धर्म के अनुसार हमें यह जानकारी करनी चाहिये कि इन पड़ोसियों का जीवन-यापन कैसे चलता है। उनकी कठिनाइयाँ, दुःख क्या हैं ? हम उनकी सहायता में तत्पर रहें, यह पड़ोसी का धर्म है। पड़ोस में कोई गड़बड़ हुई, तो अपना दरवाजा अन्दर से बंद कर बैठना, यह कोई पड़ोसी-धर्म नहीं है। पड़ोस में कोई अस्वस्थ हुआ, तो अपने भाग्य से हुआ, चाहे जिये चाहे मरे, ऐसा सोच कर उसकी अनसुनी करना पड़ोसी का धर्म नहीं है। इसमें तो मनुष्यता भी नहीं है, पड़ोस-धर्म तो दूर की बात रही। अतः पड़ोस-धर्म का पालन करने हेतु घर-घर में जाना, सबसे मिलना, बोलना, सबसे अत्यन्त स्नेह और आत्मीयता के सम्बन्ध रखने का प्रयास करना और इस बात का भी कि सबके हृदय में हमारे बारे में ऐसी धारणा बने कि यह व्यक्ति विश्वास करने योग्य है, इसमें अपने प्रति निष्कपट, निःस्वार्थ प्रेम है, यह अपना सच्चा मित्र है, अपने को कोई कष्ट नहीं होने देगा, नित्य अपना साथ देगा और सहायता के लिए दौड़ा आयेगा। सबके हृदय में हमारे प्रति विश्वास हो। इस विश्वास के बल पर हम सब पड़ोसी मानो एक बड़ा परिवार बने हैं, ऐसी जीवन की रचना हो, ऐसा हम प्रयास करें। इस प्रकार जब हम स्नेह, आत्मीयता, विश्वास का वायुमण्डल सभी पड़ोसियों में उत्पन्न कर सकेंगे, तब उन्हीं में से अपने संघ-कार्य के लिए स्वयंसेवक भी प्राप्त कर सकेंगे।

बुद्धिवाद नहीं चाहिये

अब कोई यदि सोचता हो कि मैं बड़ा बुद्धिमान् हूँ और बुद्धि के बल पर दूसरे को संघ-कार्य की अच्छाई समझा दूंगा और वह हमारे साथ आयेगा, तो यह उसकी भूल है। माना कि अपने पास बुद्धि है, हम लोगों से वादविवाद और तर्क करने में समर्थ भी हों, परन्तु यह सत्य नहीं है कि इस कारण हमारी बात लोगों को जँचेगी। कुछ लोग वादविवाद में हमसे निरुत्तर हो सकते हैं, हो सकता है अपनी पराजय वे मान भी लेंगे। परन्तु कार्य स्वीकार करेंगे, ऐसा कतई नहीं होगा ।

मुझे स्मरण है कि अपने एक अच्छे वकील स्वयंसेवक थे। मेरे एक मित्र ने मुझसे कहा कि उनके मन में संघ के विषय में अनेक प्रकार के सन्देह, आशंकाएँ हैं और उनकी मुझसे मिलने और बात करने की इच्छा है। वह मेरा पुराना परिचित और कुछ दिन शाखा में आया हुआ था। अतः मैं उसके घर गया और पूछा कि तुम्हारे मन में क्या है, बताओ। फिर उस दिन मेरी उससे लगभग डेढ़-दो घण्टे बातचीत हुई। अब इतना बोलने के लिए अवसर नहीं मिलता, परन्तु उस समय संघ का कार्य इतना बढ़ा नहीं था और आजकल जो अनेक झंझटें उपस्थित हुई हैं, वे भी नहीं थीं। इसलिए मुझे समय मिल गया। दो घण्टों में उसके जो भी सन्देह और आशंकाएं थीं, उन सबका समाधान करने का मैंने प्रयास किया। प्रत्येक बार वह कहता, 'यह ठीक है, पर गुरुजी...', और

Scanned by CamScanner

पुनः वह वही बात पूछता। मैं उसे फिर वही समझाता और वह कहता, 'यह आपका कहना ठीक है गुरुजी, पर .....?' मैंने उसे कहा– "अरे भाई, आपके कितने 'पर' हैं ? मैं एक-एक पर उखाड़ता जाता हूँ, एक-एक नया पर उगता जाता है, क्या बात है ?" अर्थात् उसे समझाना सम्भव नहीं हुआ। बुद्धि से उसकी आशंकाओं का समाधान हो गया, परन्तु 'संघकार्य हम कर सकेंगे', ऐसा उसे जँचे, यह नहीं हुआ। इसका अर्थ अपने में बुद्धि नहीं, ऐसा प्रमाणित नहीं होता। किन्तु बुद्धि की अपनी सीमाएं हैं, उनके आगे वह जा ही नहीं सकती। हम क्या करें ?

फिर लोग हमारी बात कैसे मानते और ग्रहण करते हैं ? उसके कुछ कारण हैं।

(१) कुछ लोग ऐसे हैं कि मानो परमात्मा ने उन्हें संघकार्य के लिए ही नियोजित कर रखा है। यदि किसी ने उनके पास जाकर शाखा पर चलने अथवा संघ का कार्य करने की बात कही, तो कहीं उनके पूर्व-जन्म के संस्कार तुरन्त जाग्रत होते हैं और वे हमारे साथ सहयोगी बन खड़े हो जाते हैं। उन्हें कुछ समझाना नहीं पड़ता। ऐसे बहुत लोग हैं। यह एक कारण हो सकता है। (२) कुछ लोग स्वयं सोच-विचार कर, देश की परिस्थिति आदि देखकर विवेकपूर्वक संघकार्य के अतिरिक्त गत्यंतर नहीं– ऐसा सोचकर कर्तव्य-बुद्धि से कार्य करने हेतु आगे आते हैं। और (३) कुछ लोग स्नेह के, मित्रों के भूखे रहते हैं। संघ में यह भूख पूर्ण होती है। इसलिए वे आते हैं।

स्वार्थ नहीं चाहिये

कभी कोई स्वार्थ के कारण भी आता है। एक आये थे हमारे यहाँ, वकील थे। शाखा में दिखे मुझे। मैं भी उनके साथ बहाना बना रहा था, वकील होने का। तो मैंने उनसे कहा– 'कहिये, आज आप शाखा में दिख रहे हैं ?' वे बोले–'जी हाँ, मुझे ऐसा लगने लगा कि शाखा में जाना चाहिये।' मैंने पूछा–'क्यों लगने लगा ?' वे बोले– 'कुछ नहीं, संघ का कार्य अच्छा है।' मैंने सोचा कि इतना एकाएक इसे कैसे लगा ? कुछ न कुछ दाल में काला है। इसके मन में क्या है, पता लगाना चाहिये। यद्यपि वे वकील के नाते मुझसे पुराने थे, फिर भी सोचा कि गहराई में जाकर पता लगायें। इसलिए मैंने इधर-उधर के बहुत से प्रश्न किये। समझ में आया कि नागपुर में वकील स्वयंसेवकों के लिए एक योजना बनी थी, उन्हें नागपुर तहसील और जिले में संघशाखा प्रारम्भ करने का काम सौंपा गया था। सप्ताह में शनिवार जाना और वहाँ क्या काम किया इसका वृत्त-निवेदन अगले मंगलवार रात्रि की बैठक में कर अगले सप्ताह के सम्बन्ध में योजना बनाना। इन्हें इस बात का पता लगा। इनके ध्यान में आया कि इससे उस वकील का जिले भर में परिचय होगा। जिला-केन्द्र पर न्यायालय विषयक कुछ न कुछ काम निकलता ही है। तो ये परिचित लोग उसी वकील के पास आयेंगे। हम भी इनमें घुस जायें तो अपने पास भी लोग आयेंगे, धन्धा बढ़ेगा। इस व्यावसायिक स्वार्थ के कारण वह आया।

Scanned by CamScanner

मैंने कहा था न कि कोई स्वार्थ से भी आता है। वह स्वार्थ से आया था। मैंने उससे बातचीत में सब निकाल लिया। उसने कहा–'जिले के सब लोग काम के लिए नागपुर आते हैं। यदि मेरा उनसे परिचय बढ़ा तो मेरे पास आयेंगे और मेरा काम अच्छा चलेगा।' मैंने उसे कहा– 'आपने अधूरा विचार किया।' वह बोला– 'अधूरा विचार कैसे ?' मैंने कहा– 'आप स्वयंसेवक मित्र हैं इसलिए अपनत्व के कारण वे आपकी ओर आकर्षित होकर आपके पास काम लेकर तो आयेंगे, पर अपने होने के कारण वे आपको शुल्क नहीं देंगे।' यह सुन कर उन्हें धक्का सा लगा, बोले– 'सचमुच ऐसा होता है क्या ?' मैंने कहा– 'मेरा ही उदाहरण देख लीजिये न !' मेरा उदाहरण देखो कहने पर उन्हें तुरन्त जँच गया कि यहाँ कुछ मिलने वाला नहीं है। दूसरे दिन से उनका शाखा आना बन्द हो गया।

बहस नहीं चाहिये

तो ऐसे अनेक कारणों से लोग शाखा में आते हैं, परन्तु हमने किसी से वाद-विवाद किया और बहस में उसे हराया और इसलिए अपनी पराजय स्वीकार कर उसने 'अच्छी बात है, आऊंगा शाखा में' कहा और आने लगा, ऐसा कभी नहीं मिलेगा। यदि हमने केवल बुद्धि का प्रयोग किया, हम दूसरे से अधिक बुद्धिमान् हैं, ऐसा दर्शाया, तो किसे अच्छा लगेगा ? यह मुझसे ज्यादा बुद्धिमान् है, मुझमें बुद्धि कम है, ऐसा मान्य करना किसे अच्छा लगेगा ? किसी को नहीं।

उसे लगेगा यह मेरा अपमान है, और इसलिए वह हमसे दूर रहेगा, कन्नी काटेगा। मेरा यही अनुभव है।

मेरा एक मित्र था; विषय भिन्न थे, किन्तु हम एक ही कक्षा में थे। उसे बहस करने में बड़ा आनन्द आता था। बहुत पढ़ा था, बहुत अध्ययन था, इस लिए वाद-विवाद का उत्साह भी था, और हम बहस किया करते थे। दो-चार बार ऐसा हुआ कि बहस में उसकी हँसी हुई और मित्रमण्डली उसे कहने लगी, 'तुम बड़े विद्वान् बने फिरते हो, फिर यहाँ क्यों बोलती बन्द हो जाती है तुम्हारी ?' अपने उपहास को देखकर मुझसे मिलने से कतराने लगा। सामने आता दिखा तो पास की किसी गली में खिसक जाता। दो-चार बार मैंने यह देखा। एक दिन ऐसे ही गली में घुसते हुए देख कर मैंने दौड़कर उसे पकड़ लिया और कहा– 'कहाँ भागे जा रहे हो ?' वह बोला–'मैं आपसे नहीं बोलता, क्योंकि आप सबके सामने मेरी हँसी उड़ाते हो। अपनी हँसी कराने और अपमान करवाने के लिए कौन आपसे बात करे ?' मैंने कहा– 'अरे, तुमको ही तो वाद-विवाद करने का व्यसन है, मुझे कतई व्यसन नहीं। तुम्हारा व्यसन पूरा करने के लिए, मेरी इच्छा न होते हुए मैं बहस करता हूँ। अब उस बहस में तुम घपले में पड़ जाते हो, हँसी उड़ती है, तो मैं क्या करूँ ? कोई बात नहीं। अब हम निश्चय कर लें कि हम बहस नहीं करेंगे। ठीक है ? अरे, वाद-विवाद के व्यसन के लिए क्या हम अपनी मित्रता छोड़

Scanned by CamScanner

दें ? मित्रता महत्त्व की है, वाद-विवाद नहीं।' इस प्रकार उसे समझा कर तब से उसके साथ वाद-विवाद करना छोड़ दिया। परन्तु उसी दिन मन में गाँठ बाँध ली कि वाद-विवाद से मनुष्य हमसे टूटता है, दूर जाता है, पास नहीं आता।

शुद्ध प्रेम ही आधार

वाद-विवाद में बुद्धि का उपयोग अवश्य होता है, किन्तु इस प्रकार किया तो वह उपकारी नहीं, प्रत्युत् अपकारी होता है। फिर सब लोग पास कैसे आयेंगे ? हम उन्हें संघ का कार्य समझा सकें, ऐसी स्थिति कैसे उत्पन्न होती है ? उसके लिए प्रथम हम दोनों, अर्थात् हम और जिसे हमें समझाना है उस के बीच अन्तःकरण की एकात्मता स्थापित होनी चाहिये। वह और हम, दो शरीर किन्तु एक आत्मा, ऐसी अभिन्न-हृदय मित्रता की स्थिति उत्पन्न होनी चाहिये । यह स्थिति उत्पन्न होने पर हमारे हृदय की ध्येयनिष्ठा उसके हृदय में प्रविष्ट होगी और ऐसे विशुद्ध प्रेम के आधार पर ही एक-एक मनुष्य को हम अपना कर उसमें अपने ध्येय की उपासना, भक्ति करने की इच्छा जाग्रत कर उसे अपना सहयोगी बना सकते हैं।

इसके लिए हमें अत्यन्त विवेकपूर्वक अपना चरित्र बनाना होगा। पड़ोसी से उत्तम व्यवहार, उसके जीवन में भली भाँति समरस होकर, उसका सुख-दुःख समझकर सुख की वृद्धि और दुःख का निवारण करने हेतु, चाहे जो कष्ट करने के लिए नित्य सिद्ध रह कर, सबको अपनाने का प्रयास करना चाहिये। इस विषय में कभी आलस्य न करें, यह ध्यान रखें। इसी का दूसरा स्वरूप है कि केवल पड़ोसी ही नहीं, अपितु हम जहाँ भी काम करें, वहाँ जो भी हमारे सम्पर्क में आयें, चाहे हमारे सहपाठी छात्र हों अथवा हम कहीं सेवारत हों तो हमारे समान अन्य छोटे-बड़े जो कर्मचारी हों उनके अथवा उद्योग, व्यवसाय में सम्बन्ध में आने वाले विविध श्रेणी के लोगों के साथ हमारा ऐसा व्यवहार हो कि सबके अन्तःकरण में हमारे विषय में श्रद्धा, आदर, आत्मीयता उत्पन्न हो और हम सब अन्तःकरण से एकरस हो जायें। इस आत्मीयता के कारण हमारे हृदय की संघ-विषयक दृढ़ अनुभूति उनके हृदय में स्वयमेव संक्रमित होगी। ऐसा ध्यानपूर्वक प्रयास करना चाहिये।

विश्वासपात्रता

ये सब काम करना 'साधारण स्वयंसेवक' के रूप में हमारा कर्तव्य है। उसके लिए असाधारण होने की आवश्यकता नहीं है। यह प्रत्येक स्वयंसेवक का काम है और इसे करते हुए हम संघकार्य की वृद्धि कर सकते हैं। यह सब करने के लिए आवश्यक कौन-सी बात है ?

१. हमें लोगों का विश्वासपात्र बनना होगा, और,

Scanned by CamScanner

२. उनके लिए कष्ट उठाने हेतु हम सर्वदा और सर्वथा तत्पर रहें। वह भी स्वेच्छा से, अन्तःस्फूर्ति से। केवल अपना काम है इसलिए किसी प्रकार निपटाना है, ऐसा नहीं, वरन् वास्तव में परस्पर विशुद्ध आत्मीयता का नाता अनुभव करके करना चाहिये।

कम से कम ये दो बातें हमारे पास चाहिये और इसके साथ एक तीसरी बात भी चाहिये कि हम जो उनके अन्दर संघ-कार्य के प्रति प्रेम उत्पन्न करना चाहते हैं उस **'संघकार्य में हमारा आचरण अपेक्षानुसार सम्पूर्णतया निर्दोष होना चाहिये।'** अन्यथा, हम किसी से कहेंगे कि शाखा में आना, और हम ही शाखा से गोता लगा कर सिनेमा देखने चले जायेंगे, तब कौन आयेगा ? कौन सुनेगा हमारी बात ? हमारे द्वारा कार्य नहीं होता अथवा हमारा कर्तृत्व प्रकट नहीं होता, उसके अनेक कारणों में से प्रमुख कारण है कि हम सच्चाई से कहाँ काम करते हैं ? अपेक्षानुसार कहाँ काम करते हैं ? हम इधर-उधर के छोटे-मोटे कारण से शाखा के दैनन्दिन कार्य में एक प्रकार से टालमटोल कर ढिलाई करते हैं, तब कोई हमें मानता नहीं। इस प्रकार स्वयं व्यवहार कर हम किसी से बात करें, तो वे कहते हैं– 'पता है आपका कैसा व्यवहार है। आप जो झण्डे फहरा रहे हैं, हम जानते हैं।' तब हम निरुत्तर हो जाते हैं। इसलिए अपना आचरण सम्पूर्णतया निर्दोष हो, यह अत्यन्त महत्त्व की बात है।

अब इस दृष्टि से हम स्वयं अपने बारे में विचार करें कि क्या हम सबके विश्वास के लिए पात्र बने हैं। विश्वासपात्र होने के लिए क्या चाहिये ? अपना जीवन शुद्ध चाहिये। जो अशुद्ध, अपवित्र होगा, जिसमें अनिष्ट प्रवृत्ति होने की सम्भावना होगी, उस पर कोई विश्वास नहीं करेगा। इसलिए हमें अपना जीवन शुद्ध बनाना होगा; शुद्ध माने निर्दोष, धुले चावल जैसा। व्यक्ति के नाते यह मनुष्य अत्यन्त पवित्र, शीलवान् है, ऐसी हम में से प्रत्येक स्वयंसेवक के बारे में समाज के प्रत्येक व्यक्ति की धारणा होनी चाहिये, प्रत्यक्ष वैसा अनुभव आना चाहये। स्वयंसेवक को अत्यन्त सुशील होना चाहिये। हमारे पास कितने ही बड़े-बड़े आदर्श हैं।

शुद्ध चरित्र

अपने संघ-कार्य का जिन्होंने निर्माण किया उनका आदर्श हमारे सामने है। वे अत्यन्त विमल चरित्र के थे। परम पूजनीय डॉक्टरजी थे तब की बात है, एक महानिर्वाचन हुआ था। उनके दो पुराने सहयोगी, भिन्न-भिन्न दलों में होने के कारण, एक दूसरे के विरुद्ध खड़े थे। उनमें से एक के साथ अपने डॉक्टरजी का आत्मीयता का सम्बन्ध था। अतः अपने इस सहयोगी के लिए प्रयास करना अपना कर्तव्य समझ कर डॉक्टर जी थोड़ा-बहुत प्रयास कर रहे थे। दूसरे जो सहयोगी थे, बड़े प्रभावी वक्ता थे, गरज कर बोलते थे, हजारों लोग उनका भाषण सुनने आते थे, क्योंकि गिन-गिन कर चुनी हुई गालियाँ देने में वे मँजे हुए खिलाड़ी थे। आजकल लोग गालियाँ सुनने के अभ्यस्त होने के कारण

Scanned by CamScanner

उन्हें गाली-विहीन भाषण अच्छा नहीं लगता। इसलिए हजारों लोग उनका भाषण सुनने आते। फिर वहाँ अपने प्रतिस्पर्धी और उसके सहायकों-समर्थकों के निजी जीवन की बातें और दोष खोद-खोद कर उभाड़ कर उनका भण्डाफोड़ करना और प्रत्येक की ऐसी दुर्दशा बना देना कि वह सार्वजनिक सभा में बोलने, लोगों के सामने खड़े होने का साहस न कर सके, इस काम में वे सिद्ध-हस्त थे। अपने भाषण में उन्होंने यह भी कहा कि मेरा प्रतिपक्षी नगर में कहीं सभा कर नहीं सकेगा, ऐसी स्थिति मैं निर्मित करूंगा। उन्होंने ऐसा किया भी। डॉक्टर जी के मित्र को भी सभा करने की इच्छा हुई। डॉक्टर जी ने कहा–करो। सभा हुई। सभा उखाड़ने के लिए लोग कमर कस कर आये। अपने डॉक्टरजी वहाँ कुर्सी पर बैठे थे। उनका भव्य शरीर देखकर गड़बड़ करने की किसी कि हिम्मत नहीं हुई। यहाँ कुछ गड़बड़ की तो नानी याद आ जायेगी ! पूरी सभा शान्ति से सम्पन्न हुई। बाद में वह प्रतिस्पर्धी बोले– 'क्या बताऊँ ? मेरे प्रतिपक्षी के सभी सहायकों की कलई खोल कर उनके मुँह मैंने बन्द करा दिये हैं। अब यह जिस के आधार पर खड़ा है, उसके विरुद्ध बोलने के लिए मेरे पास एक शब्द नहीं है।' अर्थात् डॉक्टर जी के विरुद्ध कौन क्या बोले ? अन्तर्बाह्य निर्मल, उज्ज्वल चरित्र ! क्या दोष दें, किस बात का भण्डा-फोड़ करें ? क्या करते वे ? वे कहने लगे, 'क्या करूँ ? इनके विरुद्ध बोलना संभव नहीं और इस अकेले के बल पर मेरा प्रतिस्पर्धी गरज रहा है।' यह हमारे सामने आदर्श है। लोगों के मन में डॉक्टर जी के प्रति कितना विश्वास था, इसके कई उदाहरण हैं।

डॉक्टर जी के एक मित्र को एक बार पैसे की आवश्यकता हुई, तो वह आया डॉक्टर जी के पास। आश्चर्य की बात, डॉक्टर जी के पास पैसे कहाँ से आते ? किसी ने मुझे बताया कि वे नागपुर में डॉक्टरी का व्यवसाय करते थे, पर मैंने तो उन्हें व्यवसाय करते कभी नहीं देखा । वे दो औषध अवश्य साथ रखते थे–क्विनाइन की गोलियाँ और लिनिमेण्ट आयोडीन। किसी को खेलने में चोट लग गयी, तो आयोडीन का फाहा लगा देते और यदि किसी को ज्वर, जुकाम हो तो क्विनाइन की गोली खाने को देते। स्वयंसेवक को देते, धन्धा नहीं करते थे। तब उनके पास पैसा कहाँ होगा ? पर मित्र को विश्वास था कि डॉक्टर जी कुछ न कुछ व्यवस्था करेंगे, इसलिए आया माँगने। डॉक्टर जी ने उसको बिठाया और कहा कि ला देता हूँ।

निकट के कुछ धनी मित्रों के पास गये, किन्तु संयोग से कोई घर नहीं मिला। तब तांगे में बैठ कर कुछ दूर रहने वाले मित्र, कांग्रेस के एक नेता बॅरिस्टर अभ्यंकर के यहाँ पहुँचे। वे अपने एक सहयोगी के साथ गपशप कर रहे थे। इन्हें देखते ही, 'आइये, आइये, डॉक्टर हेडगेवार ! इधर कैसे रास्ता भूले ?'–इस प्रकार हँसी के स्वर में बोले, क्यों कि वैसे ही आत्मीयता के सम्बन्ध थे। डॉक्टर जी ने कहा–'इस समय

Scanned by CamScanner

मेरे पास आमोद-प्रमोद के लिए समय नहीं है, कुछ निजी काम है ।' वे समझ गये, कुछ गम्भीर बात है। तुरन्त अन्दर ले गये। डॉक्टर जी ने कहा– 'अभी पाँच सौ रुपये चाहिये ।' वे बोले–'क्यों ? आपके उधर के सब मित्र क्या मर गये ?' डॉक्टर जी ने कहा– 'ये बातें बाद में करेंगे। पैसे देंगे या नहीं, बताइये। देना हो, तो तुरन्त निकालो, नहीं तो वैसा कहो। मैं और कहीं जाऊंगा।' बॅरिस्टर बोले– 'गुस्सा मत करो भाई ! आप आयें और कहें–पाँच सौ रुपये चाहिये, और मैं न दूँ ? क्या करना ऐसी सम्पत्ति का ?' तत्काल उन्होंने पाँच सौ रुपये निकाल कर दिये। डॉक्टर जी बोले– 'प्रॉमिसरी नोट लिखे देता हूँ।' बॅरिस्टर अभ्यंकर बोले– 'अभी मेरा मस्तिष्क ठिकाने पर है। लोगों को पता लगेगा कि मैंने डॉक्टर हेडगेवार से प्रॉमिसरी नोट लिखवाया, तो मेरे मुँह पर थूकेंगे। कहेंगे–यह अभ्यंकर पागल हो गया है। डॉक्टर हेडगेवार से प्रॉमिसरी लिखवाता है ! आप ये ले जाइये, हो सके तो वापस कीजिये, या मत कीजिये । पर मैं आपसे प्रॉमिसरी नोट नहीं लूंगा।'

हमारे विषय में कोई ऐसा कहेगा ? कहना चाहिये। ऐसा विश्वास हमारे बारे में भी लोगों में निर्मित हो, ऐसी शुद्धता हमारे अन्दर हो। सब बातों में नितान्त निर्मल, अर्थात् जो दो बातें चरित्र का नाश करती हैं– काम और कांचन, उनका अपने मन पर आघात न होगा, इस सीमा तक हमारा अन्तःकरण शुद्ध, निर्लिप्त बने, इसका बुद्धिपूर्वक प्रयास करना चाहिये। कर सकते हैं, कठिन नहीं है, असम्भव तो कदापि नहीं। तभी हम विश्वसनीय बनेंगे। फिर किसी के घर जाने-आने पर उसे कभी नहीं लगेगा कि यह क्यों आया। प्रत्येक घर के दरवाजे हमारे लिए मानो चौबीस घण्टे खुले हैं, ऐसी स्थिति होगी।

इस प्रकार स्वयं शुद्ध-चरित्र बनकर विश्वासपात्र बनें और सबके लिए कष्ट उठाने की सिद्धता हो। कष्ट करना, बुद्धिपूर्वक कष्ट करना माने सबका हरकामी, बिना मूल्य का नौकर बनना नहीं, वरन् उनके हृदय में हमारे विषय में सत्कार, आदर उत्पन्न हो, हमारे कष्ट करने से उनके मन में श्रद्धापूर्ण संकोच उत्पन्न हो, इसलिए हमें करना चाहिये। इसी के साथ यदि हमारा संघ-दृष्ट्या व्यवहार ठीक रहा तो हमारे अन्तःकरण की संघनिष्ठा और विचार ग्रहण कर लोग हमारे साथ संघकार्य में खड़े होंगे।

कार्यवृद्धि का अर्थ

इन बातों को हम अपने को 'साधारण स्वयंसेवक' समझ कर अपने जीवन में लायें। ये सब कर्तव्य समझ कर हमें करने चाहिये। इनसे क्या लाभ है ? ये सब काम सहज, हँसते-खेलते, बिना परिश्रम होने वाले काम नहीं हैं। उनके लिए बहुत परिश्रम करना होगा।

Scanned by CamScanner

मन में प्रश्न उठता है–यह सब किसलिए ? कोई कहेगा– संघ-कार्य बढ़ाने है लिए। कोई सोचेगा– कार्य बढ़ाना माने क्या ? बहुत हुआ है, संघ चल रहा है, कभी समाचार-पत्र में नाम आता है, कभी लोग विरोध में बोलते हैं। बोलना पड़ता है, वे क्या करें ? तो सब हो गया, अब पर्याप्त हो गया। और कितना बढ़ाना है ?

हम विचार करें। क्यों बढ़ाना ? हमने क्या लक्ष्य सामने रखा है ? हिन्दु समाज में एक छोटा सा संगठन बनाना हमारा लक्ष्य नहीं है। अखिल हिन्दु समाज को संगठित करने का लक्ष्य रखा है। अब इतना बड़ा हिन्दु समाज संगठित कैसे होगा और सबके सब संघस्थान पर कैसे खड़े होंगे ? लोग कहेंगे– क्या ऐसा कभी संभव है ? उनका कहना ठीक है। एक बात स्पष्ट है कि यह केवल पुरुषों का काम है, तब कम से कम समाज के आधे लोग तो शाखा पर नहीं आयेंगे । कुछ कहते हैं– हमें क्यों नहीं लेते ? परन्तु यह पुरुषों तक सीमित है। अब जो बहुत छोटे हैं, वे आ नहीं पाते और जो बहुत वृद्ध या अपंग हैं, वे चाहकर भी आ नहीं सकते। संघशाखा पर कौन आ सकता है इसकी पुरानी परिभाषा है कि जो स्वयं के दो पैरों पर चल कर आ सकता है वह आये। दो पैरों पर चलना सीखे शिशु से जिसके पैरों ने चलना बन्द नहीं किया ऐसे वृद्ध तक सब लोग हमारी दृष्टि से शाखा के योग्य स्वयंसेवक हैं। परावलम्बी शिशुओं और वृद्धों को छोड़ शेष सभी आयेंगे क्या ? प्रायः लगता है, नहीं आयेंगे। तब क्या किया जाय ? तब हमारा संगठन कभी होगा ही नहीं ? इसलिए हमारे सामने कोई निर्धारित मर्यादा (सीमा) चाहिये। लोग पूछते हैं–क्या मर्यादा हो ?

बहुत पहले एक बार अपने डॉक्टर जी ने कहा था कि इतने प्रतिशत स्वयंसेवक बन जायें तो न्यूनतम मर्यादा (सीमा) पूरी होगी। अब मैं प्रतिशत का अंक नहीं बताता, क्योंकि उस समय मैंने बताया था तो लोगों ने उसका विपर्यास किया था। मैंने एक स्थान पर कहा कि इतने प्रतिशत संख्या करनी है, और कार्यकर्ता भूत सवार हुए जैसे काम में लग गये। इधर-उधर शाखाएं और सर्वत्र स्वयंसेवक होकर मुझे पत्र आया कि 'हमारे यहाँ आपके निर्धारित प्रतिशत स्वयंसेवक हो गये हैं। काम पूरा हो गया है। अब बताइये, क्या करें ?' मैंने (विनोद में) उन्हें पत्र लिखा कि सत्यनारायण की एक कथा करो, सबको प्रसाद खिलाओ और संघ बन्द करो ! और क्या कहता ? कितनी भ्रान्त धारणा है प्रतिशत अनुपात के विषय में ! अतः ऐसा कुछ न बोलें जिससे विपर्यास हो । तब क्या कहा जाय ?

समूचे समाज के लिए

हमने साधारण स्वयंसेवक के कर्तव्यों के बारे में जो सोचा, उसमें अपने सम्पूर्ण समाज से आत्मीयता का स्नेहसम्बन्ध स्थापित करने की बात कही। केवल अपने नगर में, अपनी शाखा के परिसर में ही नहीं, अपितु हमें यह सम्बन्ध समग्र हिन्दु समाज के

Scanned by CamScanner

साथ स्थापित करना है। नगरवासी, ग्रामवासी, दुर्गम वनों, अरण्यों, गिरिकन्दराओं के निवासी, सभी अपने बन्धु हैं। उन सबसे अपना नित्य जीवन्त सम्बन्ध रहे, आत्मीयता का सम्बन्ध रहे, मेलजोल, विश्वास और सहकार्य का सम्बन्ध रहे, इसके लिए जितने कार्यकर्ता आवश्यक हैं उतनों से युक्त उतनी शाखाएँ और वे भी पूरे देश में फैली हुई नित्य नियमित चलने वाली शाखाएँ हमें चाहिये। विचार कीजिये यह बहुत बड़ा काम है, और उसे हमें करना है। उससे कम किसी काम से हमें संतोष नहीं होगा। अतः अपने-अपने कार्य की कम से कम सीमा तक तो कार्यवृद्धि करनी है, और सीमा तक पहुँचने के अनन्तर उसे कम नहीं होने देना है। अर्थात् कार्य की उतनी वृद्धि और उसके बाद कार्य को कम से कम उस सीमा तक नित्य चिरंजीव बनाकर टिकाये रखना, इस प्रकार जीवनव्यापी कार्य हमारे सामने है। अब हम विचार करें कि अभी हमारा कितना काम है और जितना होना चाहिये उसके मान से वह कितना न्यून है। इसलिए 'साधारण स्वयंसेवक' के नाते हमें कितना अधिक परिश्रम करना आवश्यक है, उसमें ढील अथवा टालमटोल करना हमारे लिए कैसे अनिष्ट, अयोग्य और अशोभनीय है, इसका हम विचार करें और तदनुसार फिर से अपने जीवन की रचना करें तथा अत्यन्त कर्तृत्ववान् कार्यकर्ता बन कार्य करने के लिए अग्रसर हों। यह सब त्वरा (Urgency) क्यों ? कारण, हमें अपनी स्थिति दिखाई दे रही है। हमारा हिन्दु समाज स्वयं को भूल गया है। 'अपना राष्ट्र' कहने का भी अनेक लोगों में साहस नहीं है। मातृभूमि के प्रति प्रेम नितान्त दुर्बल दिखाई देता है। अतः समाज में स्वार्थ की धूम मची है। स्वार्थ के कारण दुर्गुण, अनीति फैली है। गुटबाजी, परस्पर ईर्ष्या, मत्सर की धूम मची है। समग्र समाज टुकड़े-टुकड़े, छिन्न-विच्छिन्न होकर मानो अधोगति की ओर अग्रसर है, ऐसी स्थिति हमें दिखाई देती है।

एकमात्र उपाय

और इस फटे में पाँव डालने अनेक शत्रु हमारे घर में घुसे बैठे हैं। वे शत्रुता कर हमारे समाज को सुरंग लगा कर नष्ट करने का एक भी अवसर व्यर्थ नहीं खोते। इन शत्रुओं की सहायता करने वाले बाहरी शत्रु हैं। बाहरी शत्रुओं से मानो हमारा समूचा देश घिरा हुआ है। सभी सीमाओं पर शत्रु खड़े ललकार रहे हैं, घुसपैठ कर रहे हैं, कब सीधा आक्रमण करेंगे पता नहीं है। हम आपस में ईर्ष्या-मत्सर, लड़ाई-झगड़े, चरित्रशून्यता, राष्ट्र-विस्मरण आदि दोषों के कारण मानो एक प्रकार से अराजकता उत्पन्न कर रहे हैं और इस प्रकार की छिन्न-विच्छिन्न भीषण परिथिति के कारण आक्रमण की दशा में शत्रुओं का सामना करने की मानो शक्ति ही हमारे अन्दर न हो, ऐसी स्थिति दिखाई देती है। इन सब बातों को दृष्टिगत कर एक ही उत्तर हमारे सामने है। वह उत्तर माने दुखड़ा रोना नहीं। शत्रु को किसी तीसरे देश ने सहायता अथवा शस्त्रास्त्र दिये, इस प्रकार प्रचार कर रोना कायरता और स्त्रैणता का लक्षण है। हम परिवाद (शिकायतें)

Scanned by CamScanner

करते फिरेंगे, या उनसे भी बलवान् बन कर डट कर खड़े होंगे ? पराक्रमी, बहुगुणसम्पन्न, स्वाभिमानी राष्ट्र का क्या कर्तव्य है ? परिवाद (शिकायत) करना ? हम अपने भुजबल के भरोसे पर खड़े रहेंगे, रहना होगा। बहानेबाजी से काम नहीं बनेगा। शेष लोग हम पर आक्रमण कर रहे हैं, ऐसा रोने-चिल्लाने से नहीं बनेगा। वे तो करेंगे ही। जब तक हम दुर्बल रह कर, उन्हें आक्रमण हेतु अनुकूलता देंगे, तब तक वे आक्रमण करेंगे, आघात करेंगे।

तब हमारा काम क्या है ? यह जो विशृंखलित समाज है, आत्मविस्मृति के ही कारण बिखरा है, उसकी विस्मृति को दूर करना। मेरी मातृभूमि, अखिल समाज मेरा, यह मेरा राष्ट्र; इस मेरी भूमि में मेरे इस राष्ट्र का जीवन सर्वसमर्थ, सर्व वैभव-सम्पन्न, सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न, स्वाभिमानी बन कर संसार में आत्मविश्वास से खड़ा रहेगा, ऐसी अनुभूति प्रत्येक के अन्तःकरण में उत्पन्न करना। इस जागृति और हमारे नित्य के व्यवहार के बल पर समग्र समाज को आत्मविश्वास के सूत्र में गूँथना। सबको अनुशासन का अभ्यास करा कर आसेतु-हिमाचल, सब संकटों पर विजय पाने योग्य संगठित राष्ट्रशक्ति के रूप में अपने समाज को खड़ा करना है। अन्य कोई मार्ग नहीं है। अन्य सभी मार्ग लचर, बातूनी और ऊपरी हैं । हमारे समाज-शरीर में घुसी हुई मलिनता को हटा कर शरीर को पूर्णतया शुद्ध कर उसका समग्र चैतन्य और सारी शक्ति पुनः एक बार जाग्रत करने का कार्य ही अपने संघ का कार्य है। उसके अतिरिक्त तरणोपाय नहीं है।

वह कार्य करने का सौभाग्य ईश्वर-कृपा से हमें प्राप्त हुआ है। हम उसके "साधारण स्वयंसेवक" हैं। यह असामान्य श्रेष्ठ मान्यता हमें प्राप्त है। यह अनुभूति मन में रखकर हम अपने कार्य में लग जायें। प्रत्येक की समग्र शक्ति, बुद्धि और समय कार्य में समर्पित कर अल्प कालावधि में हमारे लिए अपेक्षित संघकार्य की अत्यन्त विस्तृत अवस्था प्राप्त कर लेनी होगी। यह हमारा कर्तव्य है, सभी इसे ध्यान में रखें और तदर्थ अपने इस वर्ग (संघ-शिक्षा-वर्ग) से अधिकाधिक योग्य बन कर जायें, यही सब बन्धुओं से इस समय मेरी प्रार्थना है।

❑❑❑

Scanned by CamScanner